National Journal of Advanced Research
www.thestudiesjournal.com
ISSN: 2455-216X
Received: 21-10-2025, Accepted: 20-11-2025, Published: 05-12-2025
Volume 11, Issue 2, 2025, Page No. 53-58

हिंदी साहित्य में सामाजिक यथार्थवाद की विकास–परंपरा: प्रेमचंदोत्तर कथा–संवेदना तथा समकालीन सामाजिक संदर्भों का समीक्षात्मक विश्लेषण

विशाल प्रताप मित्र
परास्नातक छात्र, हिंदी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी, उत्तर प्रदेश, भारत

सारांश
हिंदी साहित्य में सामाजिक यथार्थवाद की परंपरा भारतीय समाज के बहुस्तरीय अनुभवों, संरचनात्मक विषमताओं तथा ऐतिहासिक परिवर्तनों का सटीक एवं संवेदनशील प्रतिबिंब प्रस्तुत करती है। प्रस्तुत लेख प्रेमचंद से लेकर समकालीन कथा–लेखन तक यथार्थवादी प्रवृत्तियों के विकास, परिवर्तन के साथ ही विविध आयामों का समीक्षात्मक विश्लेषण का प्रयत्न करता है। प्रेमचंद द्वारा आरंभ की गई यथार्थवादी दृष्टि जिसमें ग्रामीण जीवन, वर्ग–संघर्ष, जाति–असमानता, स्त्री–स्थिति के साथ ही समकालीन सामाजिक न्याय की व्यापक संवेदनाएँ निहित थीं ने हिंदी कथा–साहित्य हेतु वह आधार निर्मित किया जिस पर प्रगतिवाद, नई कहानी, दलित लेखन और उत्तर–आधुनिक कथा धाराएँ विकसित हुईं। इस लेख में पहले प्रगतिशील कथा–साहित्य के वैचारिक आग्रहों का विवेचन किया गया है जिसमें श्रम, शोषण, औपनिवेशिकता, जनवाद एवं समाजवादी आदर्शों आदि के माध्यम से यथार्थवाद का तीक्ष्ण विस्तार दिखाई देता है। इसके बाद नई कहानी आंदोलन के अंतर्गत उभरे मनोवैज्ञानिक और शहरी यथार्थ पर चर्चा की गई है जिसमें मध्यमवर्गीय जीवन, संबंध–संकट, अस्तित्ववादी अनुभवों तथा व्यक्तिक संघर्षों का प्रामाणिक चित्रण मिलता है। समकालीन कथा–साहित्य में यथार्थ का परिदृश्य और भी जटिल हुआ है जिसमें उदारीकरण, वैश्वीकरण, डिजिटल संस्कृति, पहचान–राजनीति, जातीय हिंसा, लैंगिक विविधता, प्रवसन और शहरी असुरक्षा जैसे नए सामाजिक तत्व शामिल हुए हैं। इसी प्रकार दलित तथा स्त्री–विमर्शात्मक लेखन ने सामाजिक यथार्थवाद को अनुभववादी, प्रतिरोधात्मक और अस्मितामूलक आयाम प्रदान किए जिससे हाशियाकृत जीवन–विश्व केंद्र में आया। इस लेख का निष्कर्ष यह रेखांकित करता है कि सामाजिक यथार्थवाद न केवल साहित्य को समाज से जोड़ने वाला माध्यम है अपितु वह निरंतर बदलती सामाजिक संरचनाओं को समझने और आलोचनात्मक रूप से व्याख्यायित करने की एक जीवंत पद्धति भी है जो समकालीन संदर्भों में और अधिक प्रासंगिक होती जा रही है।

मूल शब्दः सामाजिक यथार्थवाद, प्रेमचंद, प्रगतिवाद, नई कहानी, दलित साहित्य, समकालीन कथा, स्त्री–विमर्श

प्रस्तावना
हिंदी साहित्य में सामाजिक यथार्थवाद वह साहित्यिक धारणा है जो जीवन, समाज, वर्ग–संरचना, उत्पीड़न, असमानता तथा मानवीय संघर्षों को वैसा ही चित्रित करने पर बल देती है जैसा वह वास्तव में विद्यमान होता है, न कि जैसा होना चाहिए अथवा जैसा आदर्शवादी चिंतन कल्पना करता है। सामाजिक यथार्थवाद का उद्भव यूरोपीय यथार्थवादी आंदोलन से जुड़ा हुआ माना जाता है किंतु भारतीय संदर्भ में यह अवधारणा अपनी विशिष्ट सामाजिक–सांस्कृतिक परिस्थितियों के कारण भिन्न रूप में विकसित हुई जहाँ औपनिवेशिक शासन, जाति–व्यवस्था, ग्रामीण अर्थव्यवस्था, सामंती शोषण के साथ ही राष्ट्रीय चेतना ने साहित्यिक यथार्थ को गहरी दिशा प्रदान की। साहित्य तथा यथार्थ का संबंध मूलतः द्वंद्वात्मक है एक तरफ साहित्य समाज से अर्थ ग्रहण करता है तो वहीं दूसरी तरफ वह समाज को समझने–बदलने हेतु बौद्धिक उपकरण भी प्रदान करता है (लुकाच, 1971)। हिंदी साहित्य में यथार्थवादी परंपरा का प्रारंभ भारतेन्दु–द्विवेदी युग से अवश्य देखा जा सकता है किंतु इसे अपने पूर्ण रूप में विकसित करने वाले साहित्यकार प्रेमचंद ही माने जाते हैं जिन्होंने ग्रामीण जीवन, जातिगत अपवर्जन, किसान–श्रमिक संघर्ष, स्त्री–असमानता एवं औपनिवेशिक संकट को कथा–साहित्य का केंद्र बनाया (प्रसाद, 2005)। प्रेमचंद की कृतियाँ यथा गोदान, कर्मभूमि, सद्गति आदि सामाजिक यथार्थवाद की उस परिपक्व दृष्टि को प्रस्तुत करती हैं जिसने आगे आने वाली पीढ़ियों के कथा–साहित्य की दिशा तय की। उनके बाद प्रगतिशील आंदोलन ने श्रमिक वर्ग, महिला–मुक्ति, किसान आंदोलन और साम्राज्यवाद विरोध को साहित्यिक यथार्थ का महत्वपूर्ण आधार बनाया जिससे समाजवादी–जनवादी दृष्टि का सशक्त विस्तार हुआ (नागर, 2010)। इसके बाद नई कहानी आंदोलन ने यथार्थ के मनोवैज्ञानिक पक्ष को उभारते हुए शहरी मध्यमवर्गीय जीवन, अंतर्वैयक्तिक संबंधों, लैंगिक तनावों के साथ साथ सामाजिक विसंगतियों को कथा–विमर्श के केंद्र में रखा। इसी तरह उदारीकरण–वैश्वीकरण के बाद समकालीन कथा–साहित्य में यथार्थवाद के नए आयाम उभरकर सामने आए यथा प्रवसन, बेरोजगारी, उपभोक्तावाद, जातीय हिंसा, पहचान–राजनीति, तकनीकी संस्कृति और शहरी जटिलताएँ जो वर्तमान सामाजिक अनुभव का अनिवार्य हिस्सा बन चुके हैं (कुमार, 2018)। इस लेख का उद्देश्य हिंदी कथा–साहित्य में सामाजिक यथार्थवाद की इसी विकास–परंपरा का क्रमबद्ध विश्लेषण करना है जिसमें प्रेमचंद से लेकर प्रगतिवाद, नई कहानी, दलित विमर्श, स्त्री–विमर्श और समकालीन कथा–लेखन तक यथार्थ–बोध के विभिन्न रूपों का तुलनात्मक अध्ययन किया गया है। इस संदर्भ में लेख तीन प्रमुख प्रश्नों का उत्तर खोजने का प्रयास करता है: (1) हिंदी कथा–साहित्य में सामाजिक यथार्थवाद का ऐतिहासिक विकास किस प्रकार हुआ? (2) प्रेमचंदोत्तर साहित्य में यथार्थ–बोध के स्वरूप में कौन–से वैचारिक तथा सौंदर्यात्मक परिवर्तन दिखाई देते हैं? (3) समकालीन कथा–लेखन में यथार्थ का संवेदनात्मक, वैचारिक एवं संरचनात्मक रूप किस प्रकार परिवर्तित हुआ है? इस प्रकार प्रस्तावना यह स्पष्ट करती है कि सामाजिक यथार्थवाद साहित्यिक प्रवृत्ति मात्र नहीं अपितु समाज के रूपांतरण को समझने की एक आलोचनात्मक वैचारिकी है जिसकी प्रासंगिकता आज भी उतनी ही गहरी है जितनी प्रेमचंद के समय में थी।

सामाजिक यथार्थवादः संकल्पना एवं सैद्धांतिक ढाँचा
सामाजिक यथार्थवाद साहित्य की वह प्रवृत्ति है जो समाज की संरचनाओं, वर्ग–संबंधों, श्रम–विभाजन, सत्ता–व्यवस्था तथा दमनकारी सामाजिक रूपों को उनकी वास्तविकता में उद्घाटित करती है। इसके मूल में यथार्थवाद की वह व्यापक अवधारणा है

जिसे मार्क्सवादी, समाजशास्त्रीय एवं सौंदर्यशास्त्रीय दृष्टियों ने विकसित किया है। मार्क्सवादी दृष्टिकोण के अनुसार साहित्य सामाजिक उत्पादन–प्रक्रियाओं और वर्ग–संघर्षों को प्रतिबिंबित करता है जहाँ आधार तथा अधिरचना के संबंध साहित्यिक अर्थ–निर्माण को प्रभावित करते हैं (मार्क्स एवं एंगेल, 1970)। समाजशास्त्रीय यथार्थवाद संरचना (structure), वर्ग (class), श्रम (labour), विमर्श (discourse) एवं सत्ता–संबंधों (power relations) के माध्यम से यह समझने का प्रयत्न करता है कि सामाजिक संस्थाएँ किस तरह व्यक्ति के व्यवहार, चेतना एवं अनुभव को गढ़ती हैं (बूर्दिये, 1990)। भारतीय संदर्भ में यह ढाँचा और भी महत्त्वपूर्ण हो जाता है क्योंकि यहाँ जाति–व्यवस्था, औपनिवेशिक दमन, ग्रामीण–सामंती संरचना, सामाजिक बहिष्करण आदि जैसे तत्व यथार्थ–बोध को गहराई से प्रभावित करते हैं; अतः हिंदी साहित्य में यथार्थ का अध्ययन इन ऐतिहासिक–सामाजिक आयामों को ध्यान में रखकर ही किया जा सकता है। साहित्य तथा समाज के संबंध पर लुकाच के विचार विशेष तौर पर महत्वपूर्ण हैं जो यथार्थवाद को 'समाज की समग्रता के प्रतिबिंब' के रूप में देखते हैं जहाँ साहित्य केवल घटनाओं का चित्रण नहीं करता अपितु सामाजिक प्रक्रियाओं के निहितार्थों को भी उद्घाटित करता है (लुकाच, 1971)। रेमंड विलियम्स साहित्य को संस्कृति का सक्रिय गतिशील घटक मानते हुए कहते हैं कि साहित्य समाज की संरचनाओं को प्रतिबिंबित करने के साथ ही उन्हें चुनौती भी देता है (विलियम्स, 1977)। इसी तरह अर्नेस्ट फिशर इस बात पर बल देते हैं कि कला और साहित्य मनुष्य की सामाजिक चेतना को विकसित करने और दमनकारी संरचनाओं के विरुद्ध आलोचनात्मक हस्तक्षेप करने की क्षमता रखते हैं (फिशर, 1963)। इस प्रकार सामाजिक यथार्थवाद का सैद्धांतिक ढाँचा यह स्पष्ट करता है कि साहित्य मात्र सौंदर्याभिव्यक्ति नहीं अपितु सामाजिक संरचनाओं की आलोचना और परिवर्तन का वैचारिक साधन भी है।

प्रेमचंद एवं हिंदी सामाजिक यथार्थवाद का आधार–निर्माण

हिंदी साहित्य में सामाजिक यथार्थवाद की आधार–शिला स्थापित करने का श्रेय सर्वाधिक रूप से प्रेमचंद को दिया जाता है जिनका साहित्यिक व्यक्तित्व न केवल अपने समय के सामाजिक–सांस्कृतिक परिवर्तनों से गहराई से जुड़ा था अपितु उन्होंने साहित्य को समाजोपयोगी चिंतन एवं नैतिक उत्तरदायित्व का माध्यम भी बनाया। उन्नीसवीं और बीसवीं सदी के संक्रमणकाल में जब औपनिवेशिक शासन, राष्ट्रीय आंदोलन, ग्रामीण सामंती शोषण और जातिगत उत्पीड़न भारतीय समाज को गहरे स्तर पर प्रभावित कर रहे थे तब प्रेमचंद का साहित्य यथार्थ के इसी बहुआयामी स्वरूप को पकड़ता है (प्रसाद, 2005)। उनका साहित्यिक उद्भव उस ऐतिहासिक संदर्भ में हुआ जहाँ भारत आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक स्तर पर भारी उथल–पुथल से गुजर रहा था और यही कारण है कि प्रेमचंद ने गाँव, किसान, मजदूर, स्त्री, दलित तथा निम्नवर्गीय जीवन–जगत को कथा–साहित्य का केंद्र बनाया। गोदान में होरी और धनिया का संघर्ष भारतीय किसान जीवन के शोषण, ऋणग्रस्तता के साथ ही वर्गीय असमानता का अत्यंत मार्मिक चित्रण प्रस्तुत करता है जबकि कर्मभूमि राष्ट्रीय आंदोलन एवं सामाजिक सुधार की चेतना को यथार्थवादी कथा रूप में रूपायित करता है (नायर, 2012)। इसी तरह नमक का दरोगा, पूस की रात तथा सद्गति आदि जैसी कहानियाँ जातिगत उत्पीड़न, श्रम के असमान मूल्यांकन, स्त्री की दैनंदिन पीड़ा, ग्रामीण जीवन की विषमता और सत्ता के दमनकारी रूप को अत्यंत सरल किंतु प्रभावी ढंग से उद्घाटित करती हैं। प्रेमचंद के यथार्थवादी दृष्टिकोण में बाहरी जीवन–स्थितियों का चित्रण के साथ ही नैतिक यथार्थवाद का गहरा स्वर उपस्थित था जहाँ वे मनुष्य की अंतःचेतना, संघर्ष और पीड़ा को मानवीय करुणा के साथ जोड़ते हैं जिससे उनके पात्र केवल सामाजिक परिस्थितियों के शिकार नहीं अपितु नैतिक शक्ति एवं प्रतिरोध क्षमता से संपन्न दिखाई देते हैं। प्रेमचंद का मानना था कि साहित्य का उद्देश्य समाज को दिशा देना तथा अन्याय, असमानता एवं शोषण के विरुद्ध संघर्ष की चेतना को जगाना है; अतः उनके कथा–साहित्य में करुणा, संघर्ष, सामाजिक परिवर्तन की आकांक्षा एक साथ उपस्थित मिलती है। उन्होंने न केवल जातिगत विषमता, ग्रामीण निर्धनता और स्त्री–शोषण को साहित्यिक विमर्श का हिस्सा बनाया अपितु सामाजिक यथार्थ और साहित्यिक सौंदर्यशास्त्र के बीच ऐसा संतुलन स्थापित किया जिसने हिंदी कथा–साहित्य को नए विमर्शों की ओर अग्रसर किया। प्रेमचंद की यही विशिष्टता है कि वे यथार्थवाद को साहित्यिक तकनीक के साथ ही समाज–सुधार और मानवीय संवेदना की परियोजना के रूप में देखते हैं जहाँ साहित्य अन्याय के विरुद्ध नैतिक हस्तक्षेप करता है (धरवाडकर, 2003)। इस तरह प्रेमचंद ने हिंदी सामाजिक यथार्थवाद की नींव उस समय रखी जब साहित्य सामाजिक कल्पना, दमन के विश्लेषण और परिवर्तन की आकांक्षा का महत्वपूर्ण उपकरण बन रहा था। उनके प्रभाव से आगे चलकर प्रगतिवाद, नई कहानी, दलित साहित्य और स्त्री–विमर्श जैसी धाराएँ विकसित हुईं जो प्रेमचंद की यथार्थवादी परंपरा को न केवल आगे बढ़ाती हैं अपितु उसे नए ऐतिहासिक संदर्भों में पुनर्परिभाषित भी करती हैं। इसलिए यह कहा जा सकता है कि हिंदी सामाजिक यथार्थवाद का आधार–निर्माण प्रेमचंद के साहित्यिक हस्तक्षेप एवं उनकी मानवीय–दृष्टि से ही संभव हुआ जिसने कथा–साहित्य को भारतीय समाज की वास्तविक जटिलताओं से जोड़ते हुए उसे वैचारिक और नैतिक दोनों स्तरों पर समृद्ध किया।

प्रेमचंदोत्तर यथार्थवाद: प्रगतिशील आंदोलन की यथार्थ–चेतना

1936 में लखनऊ में आयोजित प्रथम प्रगतिशील लेखक संघ सम्मेलन ने हिंदी साहित्य में सामाजिक यथार्थवाद के अगले चरण की शुरुआत की जहाँ प्रेमचंद द्वारा स्थापित यथार्थवादी परंपरा को वैचारिक रूप से समाजवादी दृष्टि, वर्ग–संघर्ष एवं जनवादी चेतना से संपन्न किया गया (जैदी, 1994)। औपनिवेशिक दमन, सामंती शोषण, श्रमिक वर्ग की कठिनाइयाँ और राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष के बीच प्रगतिवाद ने साहित्य को सामाजिक परिवर्तन का उपकरण मानते हुए उसे राजनीतिक सक्रियता, वैचारिक प्रतिबद्धता, जनता की पीड़ा आदि के प्रतिनिधित्व से जोड़ा (नायर, 2012)। इस दौर में साहित्य की केंद्रीय विशेषताएँ यथा वर्ग–संघर्ष, श्रमिक चेतना, स्त्री–मुक्ति, साम्राज्यवाद–विरोध, किसान–आंदोलन और जनता के पक्ष में वैचारिक हस्तक्षेप यथार्थवाद को नई दिशा प्रदान करती हैं (शुक्ल, 2006)। यशपाल जैसे साहित्यकारों ने वर्गीय संघर्ष, राजनीतिक दमन, वैचारिक द्वंद्व आदि को अपने उपन्यासों में व्यापक रूप से चित्रित किया जबकि भीष्म साहनी ने विभाजन, सांप्रदायिकता और आमजन की त्रासदी को यथार्थवादी तकनीक से अभिव्यक्त किया। तमस हिंसा का वर्णन के साथ उस सामाजिक–राजनीतिक संरचना का विश्लेषण है जिसने जनसमाज को विभाजित किया (साहनी, 2001)। नागार्जुन की कहानियाँ एवं उपन्यास शोषित वर्ग की भाषा, संस्कृति के साथ उस संवेदना को केंद्र में रखते हैं जहाँ मजदूरों, किसानों और हाशिये के पात्रों की संघर्षशीलता साहित्यिक सत्य का आधार बनती है। इसी अवधि में 'आंचलिक यथार्थ' का महत्वपूर्ण विकास हुआ जिसका सर्वश्रेष्ठ उदाहरण फणीश्वरनाथ रेणु का मैला आँचल है जिसमें बिहार के ग्रामीण जीवन, गरीबी, बीमारी, सामाजिक असमानता, जातिगत तनाव, लोक–जीवन और सामंती प्रभुत्व आदि को अत्यंत जीवंतता और प्रामाणिकता के साथ चित्रित किया गया है (कुमार, 2018)। रेणु का आंचलिक दृष्टिकोण क्षेत्रीयता को सीमित नहीं करता बल्कि उसे भारतीय जनजीवन की विशिष्ट सामाजिक संरचनाओं के रूप में प्रस्तुत करता है। कृष्णा सोबती ने स्त्री अनुभव, देह–राजनीति के साथ–साथ स्वतंत्रता के प्रश्नों को नई भाषिक ऊर्जा और यथार्थवादी दृष्टि से प्रस्तुत करके प्रगतिवाद को

लिंग–संवेदनात्मक आयाम प्रदान किया। प्रगतिशील आंदोलन की यह संपूर्ण विचारधारा इस विश्वास पर आधारित थी कि साहित्य का उद्देश्य अन्याय, शोषण और सामाजिक विषमता के विरुद्ध संघर्ष की चेतना उत्पन्न करना है जिससे समाजवादी आदर्श और जनवादी मूल्यों को साहित्यिक रूप मिल सके (श्रीवास्तव, 2010)। इस प्रकार प्रेमचंदोत्तर यथार्थवाद ने यथार्थ–बोध को केवल सामाजिक अनुभव के दस्तावेजीकरण तक सीमित नहीं रखा अपितु उसे वैचारिक प्रतिरोध, वर्गीय संघर्ष और सामाजिक मुक्ति की परियोजना के रूप में स्थापित किया जिसने आगे आने वाली कथा–धाराओं यथा नई कहानी, दलित साहित्य, स्त्री–विमर्श और समकालीन उत्तर–आधुनिक कथाओं हेतु मजबूत वैचारिक आधार तैयार किया।

नई कहानी आंदोलन तथा मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद का उदय

1950–60 का दशक भारतीय समाज में तीव्र सामाजिक–आर्थिक–राजनीतिक परिवर्तनों का काल था जहाँ स्वतंत्रता के बाद नवगठित राष्ट्र–राज्य एक तरफ विकास, औद्योगिकीकरण तथा शहरीकरण की दिशा में आगे बढ़ रहा था तो दूसरी तरफ बेरोजगारी, आर्थिक विषमता, प्रवसन एवं मध्यवर्गीय असुरक्षाएँ नई सामाजिक समस्याएँ बनकर उभर रही थीं (नायर, 2012)। इसी पृष्ठभूमि में 'नई कहानी' आंदोलन का उदय हुआ जिसने साहित्य को प्रगतिवाद की सामूहिक और वर्गाधारित चेतना से हटाकर व्यक्ति के मनोवैज्ञानिक अनुभवों, शहरी तनावों और अस्तित्वगत संकटों की दिशा में मोड़ दिया। नई कहानी का मुख्य उद्देश्य व्यक्ति–समाज संघर्ष को उसकी आंतरिक जटिलताओं सहित प्रस्तुत करना था जहाँ बाहरी यथार्थ की तुलना में मनुष्य की अंतःचेतना, भावनात्मक विखंडन, असुरक्षा, निजता का क्षरण एवं संबंधों का टूटना अधिक महत्वपूर्ण हो गया। शहरी मध्यमवर्ग इस आंदोलन का केंद्रीय सामाजिक आधार बना क्योंकि स्वतंत्रता के बाद तेजी से बन रहे उपभोक्तावादी और प्रतिस्पर्धी वातावरण ने इस वर्ग में निराशा, अकेलेपन, दांपत्य तनाव, पहचान–संकट आदि को गहराई से जन्म दिया था। मोहन राकेश, राजेंद्र यादव, कमलेश्वर और मन्नू भंडारी जैसे लेखकों ने इन अनुभवों को यथार्थवादी संवेदनाओं के साथ कथा में रूपांतरित किया। राकेश की आधे अधूरे और अन्य कृतियाँ शहरी दांपत्य तनाव, नौकरी–बेरोजगारी तथा टूटते संबंधों की मनोवैज्ञानिक परतों को उजागर करती हैं जबकि राजेंद्र यादव की सारा आकाश मध्यवर्गीय नैतिकता, दांपत्य संघर्ष और पहचान के संकट का सूक्ष्म चित्रण प्रस्तुत करती है (राकेश, 1989)। मन्नू भंडारी ने स्त्री की भावनात्मक पीड़ा और शहरी तनावों को महिला दृष्टि से प्रस्तुत किया जिससे नई कहानी को स्त्री–मनोविज्ञान का महत्वपूर्ण आयाम मिला (भाधरी, 2007)। नई कहानी में यथार्थ के नए आयामों यथा अकेलापन, दांपत्य विघटन, उपभोक्तावाद, बेरोजगारी, शहरी अवसाद, सामाजिक प्रतिस्पर्धा ने साहित्य को समाज की उन सूक्ष्म परतों से जोड़ा जो प्रगतिवाद के सामूहिक विमर्श में अक्सर उपेक्षित रह जाती थीं। यह आंदोलन प्रेमचंदीय यथार्थवाद से मनोवैज्ञानिक यथार्थ की ओर एक महत्वपूर्ण संक्रमण था जहाँ बाहरी संघर्षों के साथ–साथ व्यक्ति के भीतर घटने वाले मानसिक और अस्तित्वगत संघर्ष भी साहित्यिक यथार्थ का अनिवार्य हिस्सा बन गए। इस प्रकार नई कहानी आंदोलन ने हिंदी कथा–जगत को आधुनिकता, शहरीकरण एवं मनुष्य की आंतरिक टूटन की जटिलताओं से जोड़ते हुए यथार्थवाद की दिशा को मूलतः रूपांतरित किया।

समकालीन कथा–साहित्य और सामाजिक यथार्थ: 1980 के बाद से अब तक

1980 के बाद हिंदी कथा–साहित्य में सामाजिक यथार्थवाद का स्वरूप व्यापक, बहुस्तरीय एवं जटिल होता गया क्योंकि भारतीय समाज उत्तर–आधुनिकता, उत्तर–औपनिवेशिकता, वैश्वीकरण, नवउदारवादी अर्थव्यवस्था के प्रभावों से तीव्रता से रूपांतरित हो रहा था। उत्तर–आधुनिक समाज में सत्य, अर्थ, पहचान और यथार्थ की स्थिर धारणाएँ टूटने लगीं जिससे साहित्य में खंडित अनुभव, बहुवाचिकता, हाशियाई जीवन–विश्व और सत्ता–संरचनाओं की आलोचना नए रूप में सामने आई (हचियन, 1988)। वहीं उत्तर–औपनिवेशिक संदर्भों में सत्ता, भाषा, जाति, राष्ट्रवाद, सांस्कृतिक पहचान के प्रश्न अधिक तीखे होकर उभरे जिनका प्रतिबिंब समकालीन कथाकारों के लेखन में स्पष्ट देखा जा सकता है (सईद, 1993)। 1991 के उदारीकरण के बाद भारतीय समाज में उपभोक्तावाद, पूँजीवाद, निजीकरण, वैश्विक प्रतिस्पर्धा और डिजिटल क्रांति जैसी नई सामाजिक संरचनाओं ने यथार्थ की परिभाषा को मूलतः बदल दिया। उपभोक्तावादी संस्कृति ने मनुष्य को 'उत्पाद' एवं 'उपभोक्ता' के रूप में देखने की प्रवृत्ति को बढ़ाया जिससे संबंध–संकट, सामाजिक असुरक्षा, मानसिक अवसाद, पेशेगत अस्थिरता और नैतिक द्वंद्व जैसे विषय साहित्य में उभरने लगे (बाउमन, 2007)। टेक्नोलॉजी, सोशल मीडिया के साथ डिजिटलाइजेशन के प्रसार ने आभासी जीवन, निजता का क्षरण, डिजिटल असमानता और सूचना–राजनीति को नए सामाजिक यथार्थ के रूप में साहित्य के केंद्र में रखा। इसी पृष्ठभूमि में संजय खत्री, अखिलेश, संजीव, ममता कालिया, माधव कौशिक एवं अन्य कई युवा कथाकारों ने समकालीन समाज के विभिन्न वर्गों यथा प्रवासी मजदूरों, जातिगत हाशियाकृत समूहों, बेरोजगार युवाओं, संघर्षरत महिलाओं, LGBTQ+ समुदाय और शहरी निम्न–मध्यवर्ग के अनुभवों को अपने लेखन का केंद्र बनाया (कुमार, 2018)। आज की कहानियों में शिक्षा व्यवस्था की विफलता, बढ़ती बेरोजगारी, नौकरी की असुरक्षा, आर्थिक तनाव और युवा पीढ़ी के मनोवैज्ञानिक विघटन महत्वपूर्ण विमर्श बनकर उभरे हैं। जाति–हिंसा, खाप पंचायतें, साम्प्रदायिक तनाव, लव–जिहाद का राजनीतिक विमर्श और ग्रामीण भारत में बढ़ती सामाजिक ध्रुवीकरण की घटनाएँ भी समकालीन कथाओं में तीव्रता से अभिव्यक्त हुई हैं, जो दिखाती हैं कि जाति और धर्म आधारित सत्ता–संबंध अब भी सामाजिक यथार्थ की निर्णायक संरचना हैं (गुरु, 2009)। महिला–सशक्तिकरण, देह–राजनीति, पितृसत्ता के नए रूप, कार्यस्थल और घरेलू हिंसा, अवैतनिक श्रम तथा आधुनिक स्त्री की संघर्षशीलता इन सभी विषयों को ममता कालिया, अनामिका, गीतांजलि श्री तथा नई पीढ़ी की लेखिकाओं ने महत्वपूर्ण स्वर दिया है। इसी प्रकार LGBTQ+ और लैंगिक विविधताओं से जुड़े प्रश्नों पहचान, सामाजिक अपवर्जन, प्रेम, कानून और मानसिक संघर्ष को भी समकालीन कहानियाँ नए संवेदनात्मक परिप्रेक्ष्य से प्रस्तुत करती हैं। उदारीकरण के बाद प्रवसन एक केंद्रीय सामाजिक प्रक्रिया बन गई जिसने ग्रामीण–शहरी संबंधों को पूरी तरह बदल दिया; प्रवासी मजदूरों की असुरक्षा, शहरों की 'दासता', काम के अस्थायी अवसर, किराए का जीवन और भावनात्मक विछिन्नता समकालीन साहित्य में व्यापक रूप से उभरते हैं। आज का हिंदी कथा–साहित्य गाँव से शहर तक, हाशिये से मुख्यधारा तक, डिजिटल दुनिया से वास्तविक समाज तक फैले हुए यथार्थों को एक साथ पकड़ने का प्रयास करता है जिससे सामाजिक यथार्थवाद का दायरा पहले से कहीं अधिक विस्तृत, जटिल और बहु–आयामी हो गया है। इस तरह 1980 के बाद का हिंदी कथा–साहित्य न केवल समकालीन समाज की समस्याओं, तनावों, असमानताओं और आकांक्षाओं का सटीक दस्तावेज है अपितु वह नई सामाजिक संवेदनाओं को समझने और उनकी आलोचना करने का महत्वपूर्ण वैचारिक साधन भी है।

दलित साहित्य और यथार्थवाद का प्रतिरोधात्मक स्वर

हिंदी दलित साहित्य ने 1980 के दशक के बाद सामाजिक यथार्थवाद की धारा को एक नए अनुभववादी और प्रतिरोधात्मक सौंदर्यशास्त्र से संपन्न किया जहाँ साहित्य का केंद्र हाशिये पर पड़े जीवन का वर्णन के साथ ही जातिगत उत्पीड़न, सामाजिक बहिष्करण एवं मानवीय गरिमा के प्रश्नों पर सीधी वैचारिक

मुठभेड़ भी थी। दलित साहित्य का उभार उस ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में हुआ जब भारतीय समाज–राजनीति में पहचान आधारित आंदोलनों खासकर दलित–बहुजन चेतना, ने सामाजिक न्याय, प्रतिनिधित्व और मानवाधिकार के प्रश्नों को केंद्रीय स्थान दिया (गुरु, 1995)। इस साहित्य की विशिष्टता यह है कि यह 'अनुभववाद' को सत्य का प्राथमिक स्रोत मानता है अर्थात् दलित लेखक अपने जीवनानुभव, पीड़ा, संघर्ष, अपमान और प्रतिरोध को केंद्र में रखकर यथार्थ की ऐसी प्रस्तुति देते हैं जो मुख्यधारा साहित्य में लंबे समय तक अनुपस्थित या विकृत रूप में उपस्थित थी (वाल्मीकि, 1997)। ओमप्रकाश वाल्मीकि, तुलसीराम, मोहनदास नैमिशराय एवं सूरजपाल चौहान जैसे लेखक दलित यथार्थ को आत्मकथात्मक, ऐतिहासिक और राजनीतिक आयाम प्रदान करते हैं। वाल्मीकि की जूठन न केवल गंदी बस्ती, छुआछूत, अपमानजनक श्रम, जातिगत हिंसा आदि का अनावरण करती है बल्कि यह दिखाती है कि सामाजिक बहिष्करण किस प्रकार व्यक्ति की आत्मा तक को घायल करता है (वाल्मीकि, 1997)। तुलसीराम की मुर्दहिया तथा मणिकर्णिका बाल्यावस्था, निर्धनता, ब्राह्मणवादी अपमान के साथ सांस्कृतिक संघर्षों का अत्यंत मार्मिक आत्मकथात्मक दस्तावेज हैं जो जाति–व्यवस्था की संरचनात्मक क्रूरता को उजागर करते हैं (तुलसीराम, 2003)। मोहनदास नैमिशराय और सूरजपाल चौहान ने दलित जीवन के सामाजिक–राजनीतिक आयामों को कथा–साहित्य में इस प्रकार प्रस्तुत किया कि दलित अनुभव को न केवल मानवीय गरिमा बल्कि राजनीतिक स्वर मिला (चौहान, 2010)। दलित साहित्य में गंदी बस्ती, अस्वच्छता, अपमानजनक श्रम, मृत्यु–संस्कार, स्कूलों में भेदभाव, स्थानीय सत्ता–संबंध और पुलिस–प्रशासनिक दमन जैसे विषय सामाजिक यथार्थ के साथ–साथ सत्ता के क्रूर चेहरे एवं संरचनात्मक हिंसा की प्रणाली के रूप में उभरते हैं (इलैया, 1996)। यह साहित्य प्रेमचंदीय यथार्थवाद से भिन्न इस अर्थ में भी है कि जहाँ प्रेमचंद शोषित वर्ग के प्रति गहरी करुणा रखते हैं तो वहीं दलित साहित्य में प्रतिरोध, संघर्ष और विद्रोह की खुली अभिव्यक्ति मिलती है। अनुभववादी प्रतिरोध के इस सौंदर्यशास्त्र में भाषा, संरचना, कथा–तकनीक और भाव–विश्व सभी में एक प्रकार की तीक्ष्णता, मुखरता तथा अस्मिताबोध की शक्ति दिखाई देती है। यह साहित्य केवल यथार्थ का पुनरुत्पादन नहीं करता अपितु जातिगत सत्ता–संरचनाओं को चुनौती देता है और सामाजिक न्याय की नई वैचारिकी प्रस्तावित करता है। इस प्रकार दलित साहित्य ने हिंदी सामाजिक यथार्थवाद को उस क्षेत्र में पहुँचाया जहाँ साहित्य दमन के विरुद्ध प्रतिरोध, अनुभव की प्रामाणिकता और मुक्ति की आकांक्षा का सबसे सशक्त माध्यम बन गया।

स्त्री–विमर्श और यथार्थ की बदलती परिभाषाएँ

हिंदी कथा–साहित्य में स्त्री–विमर्श ने सामाजिक यथार्थवाद को एक नई दृष्टि, नई संवेदना, नए आलोचनात्मक ढाँचे से संपन्न किया जिसमें समाज को स्त्री–केन्द्रित अनुभवों, पीड़ाओं, संघर्षों, आत्म–अन्वेषण आदि के माध्यम से पुनर्पाठित किया गया। स्त्री–विमर्श का मूल लक्ष्य पितृसत्ता की उन संरचनाओं की पहचान करना है जो घरेलू हिंसा, लैंगिक असमानता, श्रम के अवमूल्यन, आर्थिक निर्भरता, भावनात्मक दमन एवं देह–राजनीति के माध्यम से स्त्री को नियंत्रित करती हैं; इसी कारण स्त्री–विमर्श 'महिला केन्द्रित कथाओं' का निरूपण मात्र नहीं अपितु सत्ता–संबंधों की आलोचना की खोज है (किश्वर, 1990)। घरेलू हिंसा जो अक्सर 'निजी मामला' मानकर छिपा दी जाती है स्त्री–विमर्श में सामाजिक संरचना की क्रूरताओं को समझने का महत्वपूर्ण माध्यम बनती है; वहीं लैंगिक असमानता और बेगार श्रम स्त्री–यथार्थ को आर्थिक, भावनात्मक और मनोवैज्ञानिक स्तर पर परिभाषित करते हैं (मनों, 2012)। हिंदी साहित्य में कृष्णा सोबती, मन्नू भंडारी, मैत्रेयी पुष्पा और चित्रा मुद्गल जैसी लेखिकाओं ने स्त्री के निजी एवं सार्वजनिक दोनों संसारों को कथा का केंद्र बनाकर सामाजिक यथार्थवाद की धारा को गहरे स्तर पर चुनौती दी। कृष्णा सोबती के उपन्यासों में स्त्री–स्वायत्तता, देह की स्वतन्त्रता, इच्छा, प्रेम, पहचान आदि के प्रश्न अत्यंत तीक्ष्णता के साथ उभरते हैं; मित्रो मरजानी इसकी सबसे प्रभावशाली मिसाल है जहाँ स्त्री इच्छा को नैतिकता के पारंपरिक ढाँचों से मुक्त करके प्रस्तुत किया गया है (सोबती, 1979)। मन्नू भंडारी की रचनाओं खासकर महाभोज और एक इंच मुस्कान में स्त्री की संवेदनात्मक दुनिया, दांपत्य तनाव, भावनात्मक विसंगति और आत्म–संघर्ष को गहरी मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अभिव्यक्त किया गया है। मैत्रेयी पुष्पा ने ग्रामीण स्त्रियों के यथार्थ यथा जाति, हिंसा, यौन–शोषण, सामंती सत्ता और भावनात्मक विद्रोह को कथा के केंद्र में रखकर स्त्री–विमर्श को ग्रामीण परिप्रेक्ष्य में विस्तार दिया जिससे स्त्री–यथार्थ का भूगोल व्यापक हुआ (पुष्पा, 1999)। चित्रा मुद्गल ने औद्योगिक मजदूरी, आर्थिक असुरक्षा, श्रमिक स्त्रियों के अनुभव और शहरी निम्नवर्गीय जीवन की जटिलताओं को यथार्थवादी सौंदर्यबोध से प्रस्तुत करके स्त्री–विमर्श में वर्गीय आयाम जोड़ा (मुद्गल, 2003)। इन लेखिकाओं ने स्त्री अनुभव को यथार्थवाद की मुख्यधारा में लाने का प्रयत्न करते हुए यह सिद्ध किया कि स्त्री–जीवन केवल कथा का 'विषय' नहीं बल्कि सामाजिक संरचना को समझने की ज्ञानमीमांशीय कुंजी है। स्त्री–विमर्श की दृष्टि से सामाजिक यथार्थवाद का पुनर्पाठ यह स्पष्ट करता है कि पितृसत्ता, परिवार, विवाह, श्रम–विभाजन, यौन–नियंत्रण और सामाजिक नैतिकताएँ स्त्री–जीवन को किस प्रकार नियंत्रित करती हैं और साहित्य इन संरचनाओं को तोड़ने का सृजनात्मक तथा वैचारिक साधन बन सकता है। इस प्रकार स्त्री–विमर्श ने हिंदी साहित्य को पुरुष–केन्द्रित यथार्थबोध से बाहर निकालकर अनुभव, संवेदना और प्रतिरोध की नई धाराओं से जोड़ा जिससे सामाजिक यथार्थवाद का स्वरूप अधिक बहुस्तरीय एवं मानवतावादी हो गया।

सामाजिक यथार्थवाद में भाषा, शैली तथा कथा–रूपों में परिवर्तन

हिंदी सामाजिक यथार्थवाद के विकास के साथ–साथ भाषा, शैली तथा कथा–रूपों में भी गहरे परिवर्तन हुए हैं जिनका सीधा संबंध समाज की बदलती संरचनाओं, वर्गीय–सांस्कृतिक विविधताओं एवं संचार–प्रौद्योगिकी के प्रभावों से है। समकालीन यथार्थवादी लेखकों ने भाषा को पारंपरिक साहित्यिक हिंदी तक सीमित न रखकर, देशज, बोलचाल, आंचलिक और शहरी बोलियों के मिश्रण को अपनाया जिससे कथा न केवल वास्तविक जीवन के निकट आई अपितु समाज की बहुभाषिकता तथा सांस्कृतिक विविधता का भी प्रामाणिक प्रतिनिधित्व करने लगी (ओर्सिनी, 1992)। आंचलिक भाषा जैसा कि रेणु, विनोद कुमार शुक्लएवं अन्य समकालीन कथा–लेखकों में देखा गया सिर्फ शैलीगत प्रयोग के साथ ही स्थानीय संवेदना, वर्गीय अनुभव और सांस्कृतिक स्मृति को संरक्षित करने का माध्यम बन गई। शहरी बोलचाल ने आधुनिक कथा को वास्तविक समय की आवाज़ दी जहाँ महानगरों की गति, तनाव और खंडित अनुभवों को नई भाषिक ऊर्जा मिली। कथा–रूपों में भी उल्लेखनीय बदलाव हुए। पारंपरिक उपन्यास और कहानी के साथ–साथ लघुकथा, सूक्ष्म–कथा, ब्लॉग–कथा और डिजिटल कथा जैसे नए रूप तेजी से उभरे जो डिजिटल युग की संक्षिप्तता, तीव्र संप्रेषण और मनोवैज्ञानिक विखंडन को प्रतिबिंबित करते हैं (नायर, 2012)। लघुकथा और सूक्ष्म–कथा ने सामाजिक यथार्थ को न्यूनतम शब्दों में परंतु तीव्र प्रभाव के साथ प्रस्तुत करने की क्षमता विकसित की जबकि ब्लॉग–कथा और डिजिटल कथा ने साहित्य को इंटरनेट–संस्कृति, सोशल मीडिया और आभासी जीवन–विश्व से जोड़ा जहाँ यथार्थ को नए डिजिटल अनुभवों के माध्यम से समझा जाता है। इसी तरह कथा–तकनीक में फ्लैशबैक का उपयोग जहाँ पात्र के अतीत को वर्तमान के साथ जोड़ा जाता है मनोवैज्ञानिक यथार्थ को उभारने का प्रभावी साधन बना जिसकी जड़ें आधुनिकतावादी साहित्य में

अवश्य हैं पर समकालीन यथार्थ में इसे नई गहराई मिली (शर्मा, 2005)। नैरेटिव ब्रेक जहाँ कथा एकरेखीय न रहकर खंडित, असंबद्ध और बहु–दिशात्मक रूप लेती है उत्तर–आधुनिक समाज के विखंडित अनुभवों को अभिव्यक्त करता है। बहुपरिप्रेक्ष्य वर्णन ने कथा को अधिक लोकतांत्रिक और बहुवाचिक बनाया जिससे एक ही घटना को विभिन्न सामाजिक, लैंगिक और सांस्कृतिक दृष्टियों से देखा जाने लगा तथा इससे यथार्थ की जटिलता बढ़ी। न्यूनतमवादी शैली जहाँ अलंकार, विस्तार एवं वर्णन की जगह सूक्ष्म संकेतों, मौन, रिक्तियों आदि का प्रयोग होता है मानवीय अनुभवों की गहराई को अभिव्यक्त करने का नया सौंदर्यशास्त्र बनकर उभरा। इस तरह भाषा, शैली, कथा–रूपों में आए ये परिवर्तन न केवल साहित्य के रूपात्मक विस्तार को दर्शाते हैं बल्कि यह भी सिद्ध करते हैं कि सामाजिक यथार्थवाद अब बहुध्रुवीय, बहुभाषिक, प्रौद्योगिकी–प्रभावित और अधिक मानवीय संवेदनाओं से संपन्न हो चुका है जो समकालीन समाज की जटिलताओं को पकड़ने का व्यापक साधन बन गया है।

समकालीन समाज के संदर्भ में यथार्थवाद की प्रासंगिकता

समकालीन समाज में यथार्थवाद की प्रासंगिकता पहले की तुलना में और भी अधिक गहरी हो गई है क्योंकि आज सामाजिक संरचनाएँ अब अधिक जटिल, बहुस्तरीय और तीव्र गति से परिवर्तित होने वाली हो गई हैं। साहित्य को परंपरागत रूप से समाज का दर्पण माना गया है लेकिन आज यह भूमिका केवल प्रतिबिंब तक सीमित नहीं बल्कि समाज की आलोचना, व्याख्या एवं पुनर्रचना तक विस्तृत हो गई है (विलियम्स, 1977)। डिजिटल युग में यथार्थ की परिभाषा ही बदल चुकी है; सोशल मीडिया, वर्चुअल स्पेस, एल्गोरिदम–आधारित संचार तथा डेटा–चालित जनमत–निर्माण ने वास्तविक–आभासी यथार्थ की सीमाओं को धुंधला कर दिया है जिससे साहित्यकारों के सामने यथार्थ को समझने और प्रस्तुत करने की नई चुनौतियाँ उत्पन्न हुई हैं। आर्टिफिशियल इंटेलिजेंस, तकनीकी निगरानी, बायोपॉलिटिक्स और मीडिया–प्रभाव ने न केवल मानवीय स्वतंत्रता और निजता पर प्रश्न खड़े किए हैं बल्कि सत्य, सूचना और लोकतांत्रिक संवाद के स्वरूप को भी बदल दिया है इस संदर्भ में सामाजिक यथार्थवाद को इन नई सत्ता–संरचनाओं की आलोचना हेतु नए रूप और नई कथा–तकनीकें विकसित करनी पड़ रही हैं (ज़ूबऑफ़, 2019)। राष्ट्रवाद, सांस्कृतिक पहचान, धार्मिक ध्रुवीकरण, जाति–आधारित संघर्ष, प्रवसन और वर्गीय असुरक्षा जैसे प्रश्न आज के सामाजिक विमर्श का केंद्र हैं और इन मुद्दों ने भारतीय समाज में अस्थिरता तथा असमानता के नए आयाम जोड़े हैं। साहित्य इन जटिलताओं को चित्रित करने के साथ उनमें निहित सत्ता–गतिशीलताओं और सामाजिक हिंसा की गहरी परतों का विश्लेषण भी करता है। समकालीन कथा–साहित्य में यथार्थवाद की संवेदना इसलिए बदलती दिखती है क्योंकि लेखक अब केवल बाहरी घटनाओं का दस्तावेज़ीकरण नहीं करते बल्कि भावनात्मक, मनोवैज्ञानिक, तकनीकी, राजनीतिक एवं डिजिटल यथार्थों को एक साथ पकड़ने का प्रयास करते हैं। इस प्रकार आधुनिक यथार्थवाद एक बहुविमीय, आलोचनात्मक और अधिक मानवीय दृष्टि के साथ विकसित हुआ है जो यह सिद्ध करता है कि साहित्य आज भी समाज का दर्पण ही नहीं बल्कि उसका विवेक, उसकी स्मृति और उसके संभावित भविष्य का मार्गदर्शक भी है।

निष्कर्ष

हिंदी कथा–साहित्य में सामाजिक यथार्थवाद की परंपरा प्रेमचंद से प्रारंभ होकर आज के समकालीन लेखन तक एक व्यापक, बहुआयामी एवं निरंतर विकसित होती धारा के रूप में उभरती है। प्रेमचंद ने जिस नैतिक यथार्थवाद, करुणा, सामाजिक न्याय आदि की आकांक्षा को केंद्र बनाकर साहित्य को जनजीवन से जोड़ा उसे प्रगतिवाद ने वर्ग–संघर्ष, श्रमिक चेतना और समाजवादी वैचारिकी के माध्यम से आगे बढ़ाया। नई कहानी आंदोलन ने यथार्थ के मनोवैज्ञानिक और शहरी पक्षों को उभारते हुए व्यक्ति–समाज संबंध की जटिलताओं को गहराई से समझाया जबकि समकालीन कथा–साहित्य ने वैश्वीकरण, डिजिटलाइजेशन, पूँजीवाद, जाति–हिंसा, लैंगिक विविधता और प्रवसन जैसे नए सामाजिक यथार्थों को कथा–विमर्श में सम्मिलित किया। इस ऐतिहासिक विस्तार में यथार्थ का स्वरूप लगातार बदलता रहा कभी ग्रामीण संघर्ष, कभी मजदूर और किसान जीवन, कभी शहरी द्वंद्व, कभी दलित अनुभव, कभी स्त्री की देह–राजनीति और आज के दौर में आभासी–डिजिटल अस्तित्व तक फैले हुए सामाजिक सत्य। यह परिवर्तन स्पष्ट करता है कि यथार्थ स्थिर नहीं; वह सामाजिक, आर्थिक, तकनीकी एवं राजनीतिक परिवर्तनों के साथ निरंतर पुनर्गठित होता है और साहित्य उसी के समानांतर अपने रूप–भाषा–संवेदना को विकसित करता है। भविष्य के साहित्यिक यथार्थ में डिजिटल निगरानी, आर्टिफिशियल इंटेलिजेंस, एल्गोरिदमिक पक्षपात, पर्यावरणीय संकट, मानसिक स्वास्थ्य, सांस्कृतिक राष्ट्रवाद और पहचान–राजनीति जैसे प्रश्न और भी केंद्रीय बनेंगे जिन्हें समझने हेतु नए कथा–रूप, नई भाषिक प्रविधियाँ और अधिक जटिल संवेदनात्मक ढाँचे आवश्यक होंगे। इसके साथ ही हाशिये के अनुभव दलित, आदिवासी, स्त्री, LGBTQ+ और प्रवासी समुदाय साहित्यिक यथार्थ को और भी व्यापक बनाएँगे। अंततः यह स्पष्ट है कि समाज और साहित्य का संबंध स्थायी और परस्पर–सक्रिय है; साहित्य न केवल समाज का दर्पण है अपितु समाज के अंतर्विरोधों, आकांक्षाओं और संघर्षों को समझने का आलोचनात्मक माध्यम भी है। सामाजिक यथार्थवाद की यह निरंतर विकसित होती परंपरा यह सिद्ध करती है कि साहित्य समाज के परिवर्तन में एक विवेकशील, संवेदनात्मक और वैचारिक शक्ति के रूप में सदैव महत्त्वपूर्ण रहेगा।

संदर्भ सूची

1. बाउमन, ज़. (2007). कन्स्यूमिंग लाइफ़. पॉलिटी प्रेस.
2. बार्थेस, र. (1977). इमेज, म्यूज़िक, टेक्स्ट. हिल ऐंड वांग.
3. भाधरी, एम. (2007). मिडिल–क्लास वुमेन इन हिन्दी फ़िक्शन. राजकमल प्रकाशन.
4. बूर्दिये, प. (1990). द लॉजिक ऑफ़ प्रैक्टिस. स्टैनफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस.
5. चौहान, एस. (2010). दलित डिस्कोर्स इन हिन्दी फ़िक्शन. सामयिक प्रकाशन.
6. धरवाडकर, वी. (2003). कॉस्मोपॉलिटनिज़्म इन इंडियन लिट्रेचर. ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस.
7. फ़िशर, ई. (1963). द नेसेसिटी ऑफ़ आर्ट. पेंग्विन बुक्स.
8. गुरु, जी. (1995). दलित पॉलिटिक्स ऐंड डेमोक्रैटिक चौलेंजेस. ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस.
9. गुरु, जी. (2009). ह्यूमिलिएशन: क्लेम्स ऐंड कॉन्टेक्स्ट्स. ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस.
10. हचियन, एल. (1988). अ पोएटिक्स ऑफ़ पोस्टमॉडर्निज़्म: हिस्ट्री, थ्योरी, फिक्शन. रूटलेज.
11. इलैया, के. (1996). व्हाय आइ ऐम नॉट अ हिंदू. साम्या पब्लिकेशन्स.
12. किंग, सी. आर. (1999). वन लैंग्वेज, टू स्क्रिप्ट्स: द हिन्दी मूवमेंट इन इंडिया. ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस.
13. किश्वर, एम. (1990). वुमेन ऐंड सोसाइटी इन इंडिया. ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस.
14. कुमार, ए. (2018). कॉन्टेम्पररी हिन्दी फ़िक्शन ऐंड सोशल चेंज. वाणी प्रकाशन.
15. लुकाच, जी. (1971). हिस्ट्री ऐंड क्लास कॉन्शसनेस. एम.आई. टी. प्रेस.
16. मार्क्स, क. – एंगेल्स, फ़. (1970). द जर्मन आइडियोलॉजी. इंटरनेशनल पब्लिशर्स.

17. मेनन, एन. (2012). सीइंग लाइक अ फ़ेमिनिस्ट. ज़ुबान.
18. मुद्गल, चि. (2003). आई. राजकमल प्रकाशन.
19. नरैन, अ. (2016). सेक्सुअल ओरिएंटेशन, जेंडर आइडेंटिटी ऐंड राइट्स. योदा प्रेस.
20. नायर, पी. के. (2012). अ शॉर्ट हिस्ट्री ऑफ़ इंडियन लिट्रेचर. कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस.
21. नागर, प. (2010). हिन्दी प्रोग्रेसिव लिट्रेचर: आइडियोलॉजी ऐंड एस्थेटिक्स. राजकमल प्रकाशन.
22. ओर्सिनी, फ़. (1992). द हिन्दी पब्लिक स्फीयर. ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस.
23. प्रसाद, जी. (2005). प्रेमचन्द ऐंड द सोशियोलॉजी ऑफ़ रियलिज़्म. मोतीलाल बनारसीदास.
24. पुष्पा, मै. (1999). चक्रव्यूह. वाणी प्रकाशन.
25. राकेश, मो. (1989). आधे अधूरे ऐंड मॉडर्न इंडियन ड्रामा. नेशनल स्कूल ऑफ़ ड्रामा पब्लिकेशन्स.
26. साहनी, बी. (2001). तमस ऐंड इट्स कॉन्टेक्स्ट्स. राजकमल प्रकाशन.
27. सईद, ई. (1993). कल्चर ऐंड इम्पीरियलिज़्म. विन्टेज बुक्स.
28. शर्मा, द. (2005). नैरेटिव टेक्नीक्स इन मॉडर्न हिन्दी फ़िक्शन. राजकमल प्रकाशन.
29. श्रीवास्तव, र. (2010). हिन्दी लिट्रेचर ऐंड सोशलिस्ट कॉन्शसनेस. ग्रन्थशिल्पी.
30. शुक्ल, र. (2006). प्रोग्रेसिव लिट्रेचर इन इंडिया. नेशनल पब्लिशिंग हाउस.
31. सोबती, क. (1979). मित्रो मरजानी. राजकमल प्रकाशन.
32. तुलसीराम. (2003). मूर्दहिया. वाणी प्रकाशन.
33. वाल्मिकि, ओ. (1997). जूठन: अ दलित्स लाइफ़. साम्या.
34. विलियम्स, र. (1977). मार्क्सिज़्म ऐंड लिट्रेचर. ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस.
35. ज़ैदी, अ. (1994). द प्रोग्रेसिव राइटर्स' मूवमेंट. ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस.
36. ज़ूबऑफ़, श. (2019). द एज ऑफ़ सर्विलांस कैपिटलिज़्म. पब्लिकअफेयर्स.